प्रवाह
निर्भीक पत्रकारिता का आठवां दशक
स्थापना वर्ष : 1948

मुस्कान आपके व्यक्तित्व की वह खिड़की है, जो दूसरों को बताती है कि भीतर एक अच्छा इंसान रहता है...
-डेनिस वेटली

अमेरिकी लेखक

हिंदी की विश्वविद्यालयी शिक्षा को तोतारटंत से बाहर निकालकर ज्ञान और गवेषणा का केंद्र बनाने, उसे अधुनातन साहित्य बोध से लैस करने तथा राष्ट्रीय क्षितिज पर हिंदी को गौरवशाली पहचान दिलाने में नामवर सिंह का योगदान सर्वाधिक है।

शिखर आलोचक का प्रयाण

शिखर आलोचक नामवर सिंह के देहावसान ने हिंदी साहित्य को स्तब्ध करने के साथ-साथ विपन्न भी कर दिया है। वह प्रतिभा और ख्याति के सर्वोच्च शिखर ही नहीं थे, संस्थाओं का निर्माता होने के साथ विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने जिस तरह अपनी चमक बिखेरी, वह अद्भुत है। हिंदी की विश्वविद्यालयी शिक्षा को तोतारंटत से बाहर निकाल ज्ञान और गवेषणा का केंद्र बनाने, उसे अधुनातन साहित्य बोध से लैस करने तथा राष्ट्रीय क्षितिज पर हिंदी को गौरवशाली पहचान दिलाने में नामवर सिंह का योगदान सर्वाधिक है। हिंदी के जिस युवतर प्राध्यापक ने बीएचयू में अपनी शुरुआती कक्षाओं में ही भारी भीड़ जुटाकर पहचान बनाई थी, कालांतर में उसने सागर, जोधपुर और जेएनयू में अपनी अध्यापन कला को शिखर पर पहुंचाया। हिंदी में ऐसे प्राध्यापक कम थे, जो वैश्विक घटनाओं पर पैनी दृष्टि रखते थे। ज्ञान, शब्द चयन, हाजिर जवाबी तथा व्यंग्य करने की क्षमता के जरिये अपनी वक्तृत्व कला को उन्होंने जिस ऊंचाई पर पहुंचाया, वह तो अभूतपूर्व था। गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी पर *दूसरी परंपरा की खोज* लिखने वाले नामवर ने जेएनयू में भारतीय भाषा केंद्र की स्थापना कर अलग परंपरा बनाने का ही प्रमाण दिया था। *छायावाद* और *कविता के नए प्रतिमान* ने उन्हें हिंदी कविता के सबसे प्रामाणिक व्याख्याता होने का श्रेय दिया, तो राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश के बरक्स निर्मल वर्मा को नई कहानी का सबसे प्रभावी कथाकार बताना साहित्य को व्यापकता में देखने की उनकी दृष्टि का प्रमाण था। नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि गहरे तौर पर राजनीतिक थी। इस राजनीतिक बोध ने उन्हें भाकपा के टिकट पर चुनाव लड़ने को प्रेरित किया था, तो नागार्जुन, रघुवीर सहाय और मुक्तिबोध को श्रेष्ठतम कवि बताने के पीछे इनकी राजनीतिक कविताओं को रेखांकित करना ही था। वह *आलोचना* जैसी साहित्यिक पत्रिका का *चुनाव के बाद का भारत* जैसा अंक निकाल सकते थे, तो मुक्तिबोध पर *कविता और राजनीति* जैसा विशेषांक निकाल सकते थे। जब उच्च शिक्षा के साथ शिक्षा केंद्रों की स्थिति भी दयनीय होती चली गई है, तब नामवर सिंह का जाना ज्यादा क्षुब्ध करता है। हमारे लिए यह थोड़े संतोष और सौभाग्य का विषय है कि *अमर उजाला* ने पिछले ही महीने उन्हें पहले शब्द सम्मान की सर्वोच्च श्रेणी 'आकाशदीप' से सम्मानित किया था।

बहुत दिनों बाद होता है कोई नामवर पैदा

मैं ने उन्हें पहली बार काशी में देखा। 1953 की जुलाई में जब मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय में एमए हिंदी की पढ़ाई करने आया, तो पहली बार मैंने नामवर जी को देखा। वह वहां विश्वविद्यालय में शोध छात्र थे। लेकिन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनको एमए की कक्षाएं भी पढ़ाने को दे दी थीं और वह इस मायने में विशिष्ट थे कि शोध छात्र होते हुए भी वह एमए के छात्रों को पढ़ाते थे। तब उनकी उम्र 27 साल रही होगी। वह देखने में ऐसे लगते थे, जैसे कोई किसान खेत में कुदाल चलाकर आया हो। खद्दर के कुर्ते-धोती में उनका शरीर बिल्कुल तना हुआ था, जैसे श्रम से गठा हुआ हो। उसी समय प्रबुद्ध छात्र के रूप में उनकी ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। शीघ्र ही वह लोकप्रिय अध्यापक के रूप में भी प्रसिद्ध हो गए। उनकी प्रसिद्धि सुनकर मैं उनसे मिलने को उत्सुक हो उठा और समय लेकर उनके घर मिलने गया था। वह घर पर नहीं थे, उनके भाई काशीनाथ सिंह थे। तीन घंटे प्रतीक्षा करने के बाद मैं लौट चला। लौटते हुए मैंने देखा कि वह यूनिवर्सिटी से बस में अपने घर की तरफ लौट रहे हैं। बस फिर क्या था, मैं भी लौट पड़ा। जब वह घर पर मिले, तो बोले कि मैंने आपको तीन घंटे प्रतीक्षा कराया, इसलिए मैं आपको तीन वचन देना चाहता हूं, जिसका मैं जीवन भर पालन करूंगा। वह बड़े विनोदी थे, बातचीत से मन मोह लेते थे। तबसे उनसे जो संबंध बना, आजीवन उन्होंने उस संबंध का निर्वाह किया।

काशी में रहते ही मैं उनके यहां बहुत आने-जाने लगा। केदारनाथ सिंह मेरे सहपाठी थे। हम दोनों उनके घर आते-जाते रहते थे। नामवर जी जो कुछ पढ़ते थे, वह हम लोगों को बताते थे। इस तरह से आधुनिकता के संस्कार और आधुनिक साहित्य का पाठ उन्होंने हम लोगों को पढ़ाया। सच्ची बात यह है कि उस समय जो संस्कार मेरे ऊपर पड़ा, वह संस्कार मेरे जीवन भर की पूंजी बन गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तो प्रेरणा देते थे, पर लेखक या साहित्य का पाठक मैं नामवर जी की संगत के कारण बना।

मैं बहुत साधनहीन विद्यार्थी था। सच्ची बात तो यह है कि मेरे खाने-पीने और रहने का कोई ठिकाना नहीं था। नामवर जी भी उन दिनों आर्थिक दृष्टि से बहुत अभावग्रस्त थे, फिर भी उन्होंने मेरी सहायता की। फिर मैं नौकरी करते हुए दिल्ली आ गया। नामवर जी ने वहां भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के टिकट पर लोकसभा का चुनाव लड़ा, हार गए। काशी विश्वविद्यालय से उनकी नौकरी भी चली गई। फिर सागर में नौकरी मिली, वह भी छूट गई। फिर उन्होंने सोचा कि चलते हैं काशी, द्विवेदी जी से मिलकर करते हैं कुछ इंतजाम, क्योंकि द्विवेदी जी का बहुत सहारा था उन्हें। लेकिन पता चला कि उन्हें भी नौकरी से हटा दिया गया है। फिर छह-सात साल उनकी आय का कोई निश्चित स्रोत नहीं था, वह उनके जीवन के बहुत बुरे दिन थे। लेकिन नामवर जी का जो तेज था, जो स्वाभिमान था, वह किसी प्रकार आहत नहीं हुआ। बल्कि उन्हीं दिनों उन्होंने *कहानी : नई कहानी*, *छायावाद* जैसी महत्वपूर्ण किताबें लिखीं। इस तरीके से उन्होंने जीवन में संघर्ष करना शुरू से सीखा, और नामवर जी के जीवन का सबसे सक्रिय और सार्थक क्षण वही था, जो उन्होंने ऐसी स्थिति में काशी में बिताए।

फिर नामवर जी भी 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की साप्ताहिक पत्रिका *जनयुग* में काम करने आ गए। वह इसके साथ ही राजकमल प्रकाशन में भी काम करते थे। दिल्ली में नामवर जी के यश का और विस्तार हुआ। उनके आने के बाद दिल्ली में साहित्यिक गतिविधियां बढ़ गईं और वह उसके केंद्र में रहे। नामवर जी के बिना पूरे भारत में कोई साहित्यिक गोष्ठी सफल और सार्थक नहीं मानी जाती थी। नामवर जी के यश विस्तार में उनके लेखन का तो हाथ है ही, उनके वक्तृत्व कला का भी खासा योगदान है। नामवर जी कवि भी बहुत अच्छे थे। उन्होंने *बकलम खुद* में कुछ अच्छे ललित निबंध भी लिखे। लेकिन वास्तव में वह बड़े आलोचक थे। आलोचक के रूप में उनका मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने पाठकों को साहित्य पढ़ने का एक नया तरीका दिया, साहित्य के नए किस्म के पाठक तैयार किए, साहित्य का नया पाठ तैयार किया। जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने एक नया तुलसी और नया जायसी प्रस्तुत किया, उसी तरह से नामवर जी की अपने समकालीन लेखन पर अचूक पकड़ थी। यह नामवर जी का बहुत बड़ा योगदान है। हिंदी समाज ने उनका सम्मान भी बहुत किया। निर्मल वर्मा, धूमिल जैसे कई रचनाकार हैं, जो उनकी आलोचना का स्पर्श पाकर उजागर हो गए। बहुत से लोग मानते हैं, कि हिंदी की दुनिया, खासकर हिंदी अध्यापकों की दुनिया जड़ है, ढकी-मुंदी दुनिया है, लेकिन नामवर जी ने अध्यापक के रूप में आधुनिक दृष्टि से नया पाठ्यक्रम तैयार किया, जो उनका बहुत बड़ा योगदान है।

नामवर सिंह का देहांत हिंदी साहित्य के एक युग का अंत है। वह हिंदी साहित्य के प्रतिनिधि व्यक्तित्व थे। उन्होंने अपने लेखन, अध्यापन और भाषणों से लेखकों और पाठकों की पीढ़ियां तैयार कीं, साहित्य की नई पाठ-विधि प्रस्तुत की। उन्होंने हिंदी की एकाधिक पीढ़ियों को साहित्य पढ़ने, लिखने और समझने के रास्ते बताए। नामवर सिंह हमारे दौर के साहित्यिक गुणवत्ता के मानक थे। उनकी उपस्थिति के बिना साहित्य के मुद्दे, विवाद, प्रश्न सार्थक नहीं होते थे। वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा की परंपरा की ऐतिहासिक कड़ी थे। डॉ. नामवर सिंह ऐसे वामपंथी चिंतक और आलोचक थे, जो सभी खेमों में मान्य थे और सबको एकत्र करने वाले व्यक्ति ही नहीं, मंच भी थे। वह प्रगतिशील लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष और पथ-प्रदर्शक थे। उनके जाने से निर्जनता और शून्यता का एहसास हो रहा है। उन्होंने मुझे लिखना-पढ़ना सिखाया, विविध प्रकार से मेरी सहायता की। वह मेरे गुरु और सतीर्थ (गुरुभाई) थे। उनके जाने से मेरे लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का देहांत अब हो गया है।

अगर मैं लेखक या आलोचक हूं, तो मेरा मानना है कि हम उनकी जेब से निकले हुए आलोचक हैं। बहुत दिनों के बाद नामवर जैसा व्यक्तित्व पैदा होता है और हिंदी साहित्य को शायद बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी नामवर जी जैसा दूसरा व्यक्ति देखने के लिए।

एक आयोजन में कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, अशोक वाजपेयी के साथ नामवर सिंह, फाइल फोटो

नामवर सिंह का देहांत हिंदी साहित्य के एक युग का अंत है। वह हिंदी साहित्य के प्रतिनिधि व्यक्तित्व थे। उन्होंने अपने लेखन, अध्यापन और भाषणों से लेखकों और पाठकों की पीढ़ियां तैयार कीं।

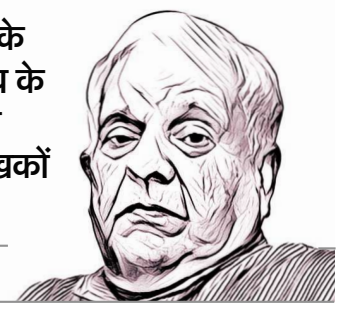
विश्वनाथ त्रिपाठी, वरिष्ठ आलोचक

अस्वीकार का साहस

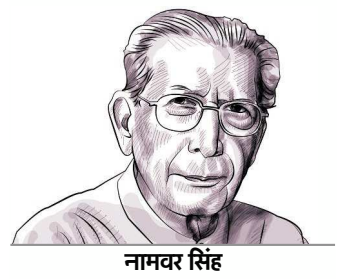
नामवर सिंह
(1927-2019)

हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम कबीर के साथ उसी तरह जुड़ा है, जैसे तुलसीदास के साथ रामचंद्र शुक्ल का। हिंदी में द्विवेदीजी पहले आदमी हैं, जिन्होंने यह घोषणा करने का साहस किया कि 'हिंदी साहित्य के हजारों वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास।' यदि हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीरदास बहुत कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे', तो *कबीर* के हजारीप्रसाद में भी यह साहस कम नहीं है।

किसी कवि को साहित्य में प्रतिष्ठा दिलानेवाले थे आचार्य शुक्ल; लेकिन उन्होंने जहां तुलसीदास, सूरदास और जायसी पर स्वतंत्र रूप से विस्तृत समीक्षाएं लिखीं, कबीर को इस योग्य नहीं समझा। उनके लिए कबीर का महत्त्व 'इतिहास' तक ही सीमित रहा; और 'इतिहास' में भी कबीर के प्रति सम्मान या सहानुभूति का भाव नहीं दिखता। उनकी दृष्टि में कबीर की भाषा तो पंचमेल है ही, विचार भी पंचमेल है; प्रतिभा उनमें जरूर बड़ी प्रखर थी और उनकी उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार भी है, लेकिन कवित्व भी है - यह शुक्लजी ने कहीं नहीं कहा है। 'इतिहास' के संशोधित और प्रवर्धित संस्करण (1940) में आगे चलकर शुक्लजी ने इतना तो स्वीकार किया कि 'मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया' लेकिन उस बात से *तुलसीदास* नामक पुस्तक (1923) में पहले की लिखी इस बात का परिहार नहीं होता कि कबीर आदि निर्गुणिया संत लोक-विरोधी थे। इस प्रकार कबीर की वाणी पर सोचने-विचारने के लिए हिंदी से कोई उत्साहवर्धक प्रकाश मिलने की आशा न थी; जो मिल रही थी वह थी चुनौती! प्रकाश की कोई किरण यदि कहीं थी तो शांति निकेतन में। द्विवेदीजी के शांति निकेतन पहुंचने से काफी पहले रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से आचार्य क्षितिमोहन सेन वाचिक परंपरा में प्राप्त कबीर के वचनों का संग्रह करके प्रकाशन करवा चुके थे। कबीर की विद्रोही भावना स्वयं उनकी सामाजिक स्थिति की स्वाभाविक उपज थी, इसको रेखांकित करते हुए 'भूमिका' में द्विवेदीजी ने लिखाः 'वे दरिद्र और दलित थे, इसलिए अंत तक वे इस श्रेणी के प्रति की गई उपेक्षा को भूल न सके। उनकी नस-नस में इस अकारण दंड के विरुद्ध विद्रोह का भाव भरा था।'

द्विवेदीजी से पहले कबीर का व्यक्तित्व हिंदी में एक ऐसे अक्खड़ फकीर का था, जो सबको डांटा-फटकारा करता है और अपढ़ लोगों पर रोब गालिब करने के लिए झूठी गर्वोक्तियां करता है तथा कभी-कभी उलटबांसियां बककर लोगों को चौंकाता रहता है। आचार्य शुक्ल ने कबीर को बहुत कुछ ऐसे ही 'झूठे' महात्मा के रूप में पेश किया है। बाबू श्यामसुंदर दास ने भी 'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना में एकाधिक बार कबीर के 'अक्खड़पन' का जिक्र किया है। द्विवेदीजी ने सबसे पहले कबीर के इस 'अक्खड़पन' के मिथक को ही तोड़ने का प्रयास किया है। द्विवेदीजी के अविस्मरणीय शब्दों में : 'ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्तमौला; स्वभाव में फक्कड़, आदत से अक्खड़; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।'

कबीर जैसे संत का विरोध संभवतः सामंती-पुरोहिती के दमन के चक्र से था, जिसमें जनसाधारण हिंदू-मुसलमान दोनों ही पिस रहे थे। यह दमन चक्र किसी राजनीतिक अत्याचार से कितना अधिक और अमानुषिक है, इसे आज स्वाधीन भारत के किसी क्रांतिकारी को बतलाने की जरूरत नहीं है।

(उनके लेख का संपादित अंश)

शब्दकोश के शब्दों से न लेख, न भाषण

नामवर जी से मेरी पहली मुलाकात काशीनाथ सिंह के घर पर पिछली सदी के साठ के दशक के लगभग अंत (67-68) में हुई। काशी से हम लोगों की आत्मीयता थी, जब नामवर जी आते थे, तो काशी बताते थे। उस बार भी उन्होंने ही कहा कि भैया आ रहे हैं और एक गोष्ठी भी है। आप उसमें जरूर आइए। मैं गया। विजयमोहन जी थे और भी कई थे। मेरी ठीक से उनसे मुलाकात बाद में हुई। नामवर जी जोधपुर विश्वविद्यालय पहुंच चुके थे। मेरा भी चयन वहां हो गया था, परंतु मैं बरेली में था। नामवर जी ने दो-तीन बार मुझसे कहा कि जल्दी वहां आ जाइए। फिर भी मैं नहीं जा सका। मैंने एक चिट्ठी उनको लिखी। उसमें क्या लिखा था, वह सब तो नहीं याद है, परंतु बदले में उन्होंने जो चिट्ठी लिखी, उसकी एक बात मुझे याद है। मैंने उसमें कुछ लिखा होगा बनारस से लगाव के बारे में, तो नामवर जी ने चिट्ठी लिखी और उन्होंने उसमें गालिब को उद्धृत किया और लिखा कि *जब मैकदा ही छूटा तो फिर क्या जगह की कैद, मस्जिद हो, मदरसा हो, कोई खानकाह हो।*

जिन दिनों मैं जोधपुर में था और नामवर जी जेएनयू में, उन्हीं दिनों मैंने साहित्य के इतिहास दर्शन पर कुछ लेख लिखे, जो *आलोचना* में छपे। हमारे सामने बड़ी समस्या यह होती थी कि इन सब विषयों पर हिंदी में तो बहुत कम सोचा-विचारा गया था। जो सब था, सब अंग्रेजी में और यूरोपीय साहित्य में। तो मैंने नामवर जी से कहा कि डॉ. साहब, मैं कैसे इनका नाम लिखूं? तो उन्होंने कहा कि एक काम कीजिए, किसी का नाम देकर उद्धरण देना है, तो उसका नाम आप रोमन में लिख दीजिए। मैं जहां हूं मतलब जेएनयू में, वहां विभिन्न भाषाओं के लोग हैं। उनकी मदद से सही-सही जो उच्चारण होगा, वह पता करके मैं आपके लेख में डाल दूंगा।...तो नामवर जी ने इस तरह से मेरे लिखने की प्रक्रिया में मदद की।...क्या पढ़ना चाहिए और क्या नहीं पढ़ना चाहिए, इसमें नामवर जी ने मेरा मार्गदर्शन किया। इसीलिए ऐसे बहुत सारे विषयों पर मैंने काम किया और लिखा, जिन पर हिंदी में कम काम हुआ है। उसका अधिकांश श्रेय नामवर जी के मार्गदर्शन को है।

मैनेजर पांडेय, वरिष्ठ साहित्यकार

जो कुछ मैं आज हूं, उसे बनाने में नामवर जी का जो योगदान है, वह मैं इस जीवन में कभी भी नहीं भूल सकता।

जब मैं जेएनयू में आया, तो एक प्रक्रिया उन्होंने अपनाई। प्रक्रिया यह थी कि हमारा जेएनयू का पाठ्यक्रम, जो नामवर जी का बनाया हुआ था, इसमें चार-पांच एमए और एमफिल में ऐसे प्रश्नपत्र थे, जो अधिकांश सैद्धांतिक थे। हर दो साल बाद वह कहते कि पांडेय जी, यह कोर्स पढ़ाते-पढ़ाते मैं ऊब गया हूं। अब जो मैं पढ़ाता हूं, वह आप पढ़ाइए और जो आप पढ़ाते हैं, वह मैं पढ़ाऊंगा। जब नामवर जी मुझसे कोर्स पढ़ाने के लिए लेते, तो पूछते थे कि पांडेय जी, इस पेपर से संबंधित पत्रिकाओं में कितने लेख छपे, जो आपने पढ़े? किताबें कौन-कौन-सी नई आई हैं? अब इससे सपने में भी मुझे यह भ्रम नहीं हुआ कि वह यह सब जानते नहीं हैं।

लेखन के आरंभिक दिनों में हम लोगों पर जयशंकर प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल आदि की भाषा का असर था। एक बार नामवर जी को एक लेख लिखकर मैंने दिया *आलोचना* के लिए। नामवर जी ने लेख पढ़ लिया और दूसरे दिन मुझसे बोले कि पांडेय जी, उसमें थोड़ी भाषा संबंधी समस्या है। मैं आपको लेख लौटा रहा हूं। ठीक करके दीजिए। मैंने देखा कि लेख में निशान तो उन्होंने कोई लगाया नहीं है। तो मैंने पूछा कि डॉक्टर साहब, क्या समस्या है? वह बोले, कई वाक्यों में मौलवी अपनी दाढ़ी फटकार रहे हैं और कई में पंडित जी अपनी चुटिया हिला रहे हैं। वह बोले, ऐसी भाषा नहीं चलती, दोनों में एक संतुलन हो और अरबी-फारसी के केवल वे शब्द हिंदी में चलें, जो प्रचलन में हो, और संस्कृत के शब्दकोश से शब्द निकालकर न लेख लिखने चाहिए, न भाषण देना चाहिए। यह पद्धति थी नामवर जी की। अपने-से छोटे, अपने आत्मीय लोगों को सिखाते थे। जो कुछ मैं आज हूं, उसे बनाने में नामवर जी का जो योगदान है, वह मैं इस जीवन में कभी भी नहीं भूल सकता।

-बहुवचन-50 में प्रकाशित लेख के अंश

घर का जिम्मेदार बड़ा बेटा

सच पूछिए तो नामवर को ठीक से तब तक न पिता जी जानते थे, न हम दोनों भाई। भौजी का तो सवाल ही नहीं था। 1941 में उन्होंने गांव छोड़ा था। छुट्टियों में दो-चार दिनों के लिए जब कभी आते, गांव में छोटे-बड़े सबसे मिलते और चले जाते। हमें इतना पता था कि 'कवी' हैं। पिताजी इतना जानते थे कि डेढ़-दो साल पहले विश्वविद्यालय की पढ़ाई खत्म कर चुके हैं। उसके बाद भी वहां क्यों पड़े हुए हैं- यह नहीं समझ पाते थे।

पिताजी के भाइयों में एक ठंडा तनाव था, लेकिन घर के अंदर भयावह कलह। और वह बढ़ता जा रहा था। मैं हाईस्कूल का इम्तिहान देने जा रहा था और मंझले भाई इंटर का। जुलाई से विजय की भी पढ़ाई शुरू होनी थी। बंटवारे की धौंस दो-तीन साल पहले से ही दी जा रही थी, लेकिन बेटों के हित में पिताजी सहते और टालते जा रहे थे। वे खुद खेतीबारी में अनाड़ी थे। लेकिन अब टालना संभव नहीं रह गया था। वे परेशान और चिंतित।

ऐसे ही में उन्होंने बनारस से भैया को बुलाया। भैया चुपचाप उन्हें सुनते रहे और कुछ नहीं बोले। मेरी जानकारी में यह 'पिता-पुत्र' का पहला लंबा संवाद था- दस-पंद्रह मिनट का। इससे पहले 'कब आए? कब जाना है?' से अधिक कभी नहीं सुना था। शाम को पिताजी और उनके दोनों भाई जुटे। भैया ने व्यवहार में कभी उन तीनों में फर्क नहीं किया था। वे भी शायद पहली बार मुंह खोल रहे थे उन तीनों के सामने। सिर्फ निवेदनवश।

वह कुछ इस तरह था, जो मुझे याद है- 'आप तीनों मेरे पिता हैं। कभी जबान नहीं खोली आप सबके सामने। लेकिन जो कुछ देखा-सुना उसी के आधार पर कहना चाहता हूं कि बात और बिगड़े और लोग हम पर हंसें, इसके पहले आप तीनों अलग हो जाएं। आपस में प्रेम बना रहे, इसके लिए भी यह जरूरी है। इतना ध्यान रखें कि गांव से बाहर किसी को खबर न हो। किसी रिश्तेदार या पास-पड़ोस के किसी आदमी को पंचायत करने का मौका न मिले। इसी में आपकी प्रतिष्ठा है।' और अंतिम बात उन्होंने पिताजी से कही- 'बड़का बाबू घर के मालिक हैं। और कक्का आपके छोटे भाई। बड़का बाबू जो उचित और सही समझेंगे, बिना भेद के करेंगे। इतना विश्वास कीजिए और सिर झुकाकर स्वीकार कीजिए।' 'मेरी यही सलाह है, बाकी आप लोग बड़े हैं, जो ठीक समझें, करें।'

वे बड़का बाबू के पैताने बैठे थे, उठकर खड़े हो गए आधे घंटे के अंदर। तीनों ने घर के अपने ही एक बच्चे की ऐसी 'निःसंगता' की कल्पना नहीं की थी। अगली सुबह वे लौट गए पिता जी से यह कहते हुए कि पढ़ाई न रामजी की बंद होगी, न काशी की। आप स्कूल मत छोड़िए, उतना ही कीजिए जितना बन पड़े, जो हंसें, उन्हें हंसने दीजिए। अधिक से अधिक यही होगा कि फसल नहीं होगी या कम होगी।

गांव पर हम दोनों भाई भैया के आगे पीछे रहते थे- हर समय और हर जगह। यह हमने देखा कि जिस पिता के सामने हमीं नहीं, भैया ने भी, कभी कुछ कहने की हिम्मत नहीं की थी, उसी के सामने बड़े बेटे की जिम्मेदारी के साथ बोलते रहे, और वे सुनते रहे। बंटवारा हो गया- वैसे ही जैसे भैया ने कहा था। किसी को खबर तक नहीं लगी- न विवाद, न मनमुटाव, न कहासुनी, न शिकवा-शिकायत! तीनों दुखी, लेकिन संतुष्ट। पिता जी के हिस्से दो बैल, दस बीघे खेत, घर की दो कोठरियां, आंगन और रसोई के आधे-आधे भाग आए। दुआर साझा-जब तक सबके अपने-अपने न हो जाएं। बंटवारे से सबसे खुश औरतें थीं। काम का बोझ खत्म। इसी समय खबर आई कि विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में भैया की नौकरी लग गई। इस समाचार से सब खुश थे, लेकिन सबसे ज्यादा भौजी।

-काशीनाथ सिंह की किताब घर का जोगी जोगड़ा का एक संपादित अंश।

काशीनाथ सिंह
वरिष्ठ कथाकार व नामवर सिंह के छोटे भाई

हमने देखा कि जिस पिता के सामने हमीं नहीं, भैया ने भी, कभी कुछ कहने की हिम्मत नहीं की थी, उसी के सामने बड़े बेटे की जिम्मेदारी के साथ बोलते रहे, और वह सुनते रहे। बंटवारा हो गया- वैसे ही जैसे भैया ने कहा था।

दिल्ली में ढूंढते रहे बनारस

नामवर सिंह नहीं रहे। यह हिंदी आलोचना की तीसरी परंपरा का लोप है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद अब नामवर जी। नामवर हिंदी आलोचना का अकेला ऐसा नाम था, जो हिंदी साहित्य के आदिकाल से लेकर उत्तर आधुनिक युग तक किसी भी कालखंड पर अधिकार से अपनी बात रखते थे। उनका न रहना हिंदी आलोचना की सबसे सजग, सतर्क, बहुपठित और संवादी परंपरा का अवसान है। पूरे तीस बरस से मैं नामवर के होने का मतलब ढूंढ रहा था और अब उनके न होने के मायने ढूंढने बैठा हूं। एक बड़ा शून्य है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से लेकर अब तक के भाषायी साहित्य में। उद्भट और मुंहफट प्रतिभा के धनी नामवर सिंह की 'नामवरियत' बनारस में ही जन्म ले सकती थी। इसकी भी एक वजह है। बनारसीपन एक अति आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि है। उसमें जन्मे, पगे, बढ़े नामवर जी पांडित्य से भरे विविध रंगों वाले बिंदास बनारसी थे। जमाने को ठेंगे पर रख अपनी बात को पूरी ताकत के साथ रखने का अंदाज इसी दृष्टि की उपज थी, क्योंकि जाति, वर्ग, संप्रदाय और धर्म से आगे की चीज है बनारसीपन। समूची पांडित्य परंपरा से लैस नामवर जी अति आधुनिक औजारों से 'दूसरी परंपरा' यहीं ढूंढ़ सकते थे। नामवर सिंह का कर्मक्षेत्र भले ही दिल्ली रहा हो, पर उनका भाव क्षेत्र हमेशा बनारस रहा।

यह सही है कि बनारस में नामवरजी का अनुभव अच्छा नहीं रहा, मगर यह भी उतना ही सच है कि वह दिल्ली में हमेशा बनारस ढूंढते रहे। अपने आस-पास, मित्रों में, खान-पान में, पहनावे में और अपनी भाषा में। उन्होंने गुस्से में बनारस छोड़ा। लोकसभा का चुनाव लड़ा। नौकरी गई। बेरोजगारी देखी। समकालीन साहित्यकारों ने काम भी लगाया। मगर जब बनारस छोड़ा, तो पलटकर नहीं देखा। उनके भीतर का जो बनारसी था, उसी ने उनके भीतर यह दृढ़ता और जिद पैदा की। आखिरी के दिनों में वह मुझसे कहा करते थे कि उन्होंने क्षेत्र संन्यास ले लिया है। अब वह इस क्षेत्र के बाहर नहीं जाना चाहते हैं, पर एक बार बनारस जाने का मन है। 'देखल जाय कईसन हौअ बनारस, कईसन हऊअन बाबा विश्वनाथ', पर जहाज से यात्रा की उन्हें इजाजत नहीं थी। सो अपने मूल पर लौटने की उनकी इच्छा धरी रह गई।

नामवर सिंह कलम के सिपाही नहीं, बल्कि बातों के जादूगर थे। नामवर जी बेहद अध्ययनशील थे। वह भाषा के बेजोड़ खिलाड़ी थे। उनकी भाषा मुहावरे गढ़ती है और यही मुहावरे साहित्य की चौहद्दी बनाते हैं। नामवर जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। आलोचना ही नहीं कविता की परंपरा से भी उनका उतना ही गहरा संबंध था। नामवर सिंह 'पुनीत' को बहुत कम लोग जानते हैं। वह इस नाम से अपने लेखक जीवन की शुरुआत में कविताएं लिखते थे। अध्यापक नामवर। चंदौली से चुनाव लड़नेवाले राजनेता नामवर। आलोचक नामवर और अब किंवदंती बन चुके नामवर।

नामवर जी का एक खास स्वभाव था कि अगर वह आपकी बात से असहमत होते, तो आपकी बाकी बातों को उड़ाते हुए कहेंगे—'आप तो बड़े विद्वान् आदमी हैं।' एक संस्मरण याद आया। साल 1982 की बात है। मैं पहली बार उनसे विधिवत् मिला। बीएचयू से जेएनयू में पढ़ने आया था। दाखिला कराने जब बनारस से दिल्ली आ रहा था, तब मेरे पिता मनु शर्मा ने कहा था कि नामवरजी से जरूर मिलना। उनके घर पहुंचा, दस्तक दी। उन्होंने खुद ही दरवाजा खोला। बोले—'आइए। कैसे दिल्ली आए हैं।' मैंने जवाब दिया—'पढ़ने आया हूं।' चश्मे के भीतर से झांकती उनकी गंभीर आंखों ने पूछा, 'रहते तो कबीरचौरा में ही हो।' मैंने कहा, 'जी।' उनका अगला सवाल था—'कबीर को पढ़ा है?' 'जी पढ़ा है।' 'कबीर को समझने के लिए किसे पढ़ा है?' नामवरजी ने अगला सवाल दागा। उन्होंने सोचा होगा कि मैं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम लूंगा, क्योंकि हिंदी में कबीर पर उनकी सबसे प्रामाणिक किताब थी। लेकिन मैंने कहा, 'जी मैंने कबीर पर आचार्य रजनीश को पढ़ा है।' रजनीश उस वक्त तक ओशो नहीं थे। मेरे इस जवाब पर वह भेद भरी मुस्कान के साथ अपने चिरपरिचित अंदाज में बोले, 'आप तो बड़े विद्वान् आदमी मालूम पड़ते हैं।' मैं इसे समझा नहीं। बाद में पता चला कि वह अपना यह जुमला तब ही उछालते हैं, जब आप निरर्थक बोल रहे हों।

नामवर जी आलोचना के कालजयी हस्ताक्षर थे। वह इंसानियत के सूर्य थे। मानवीय भावनाओं के संवेदनशील चितेरे थे। साहित्य के कैनवास पर उनका जितना बड़ा कद था, उससे भी लंबी लकीर वह मानवता के कैनवास पर खींचते थे। उन्हें प्रणाम।

हेमंत शर्मा
वरिष्ठ पत्रकार

उनकी भाषा मुहावरे गढ़ती है और यही मुहावरे साहित्य की चौहद्दी बनाते हैं। नामवर जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। आलोचना ही नहीं, कविता की परंपरा से भी उनका उतना ही गहरा संबंध था।